इसी बरगद के नीचे

विश्वनाथ सिंह

इसी बरगद के नीचे

राष्ट्रीय एकता की भावना पर आधारित लघु उपन्यास

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
नयी दिल्ली-110002

इसी बरगद के नीचे

विश्वनाथ सिंह

प्रकाशक :
भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
शफीक मेमोरियल
17-बी, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट
नई दिल्ली-110002
टेलेफोन : 3319282

ग्रन्थांक : 149
©भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ : मूल्य : 3.00
पहला संस्करण : 1985

मुद्रक :
शान प्रिंटर्स,
शाहदरा
दिल्ली-110032

अपनी ओर से—

सामने एक जंगल है और हांफता हुआ सन्नाटा। बीच में जंगल के पार जाने के लिए एक ऊबड़खाबड़ रास्ता है। सड़क तो क्या कहेंगे, हां—पतली-सी पगडंडीनुमा एक डगर है। खैर, कुछ भी हो, है तो रास्ता ही—जंगल के पार जाने का !.....

हमारे देश—यानी दुनिया के सबसे बड़े आजाद जनतन्त्र देश—में 'अनपढ़ता' या शालीन भाषा में कह सकते हैं : 'निरक्षरता' एक घना भयावह जंगल ही तो है, जिसे पार करने के लिए आजादी के बाद हम बीहड़ डगर पर लगातार चलते रहे हैं और आगे भी तमाम उलझनों और आपाधापी के बावजूद चलते रहने की हमारी यह इच्छा और कोशिश लगातार जारी है। रही बात इस लंबे सफर में चलते रहने के दौरान सफलता की—तो आंकड़े बोलते हैं कि इस समय हम कहां और किस पड़ाव पर हैं। मानना होगा, और मान लेना भी चाहिए, कि हमारे इस लम्बे सफर की, कुछ अड़चनों और भटकावों के बावजूद एक सही दिशा बराबर बरकरार है। उदाहरण जरूरी ही हो तो, फिलहाल बेझिझक अपने इसी पड़ाव का हवाला देना ही काफी होगा कि आपके हाथों में आयी यह पुस्तक नवसाक्षरों के लिए प्रकाशित है।

जी हां, इस शृंखला में प्रकाशित आठ नयी पुस्तकें पिछले दिनों भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ द्वारा 'ऐस्पेबे' के सहयोग से सूरजकुंड में आयोजित लेखक-कार्यशाला में लिखी गई थीं। इस तरह की कार्य-शालाएं भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ द्वारा पहले भी कारगर रूप से

सम्पन्न हुई हैं, लेकिन विषय की विविधता और सर्जनात्मक लेखन की सबरसता के कारण यह सूरजकुंड कार्यशाला सहज ही अनूठी हो गयी। इस कार्यशाला में राजधानी दिल्ली तथा दूसरे शहरों से आए सजग लेखकों ने पूरी हार्दिकता से हिस्सा लिया और राष्ट्रीय एकता, परिवार कल्याण, जनसंख्या शिक्षा, सामाजिक कुरीतियों, महिला शिक्षा, पर्यावरण, ग्रामीण विकास—जैसे विषयों पर खुले मन से लिखा। हमें विश्वास है, उनकी लिखी पुस्तकें नव-साक्षर साहित्य के पाठकों, और प्रशिक्षकों को भी, पूरा सन्तोष अवश्य देंगी।

अंत में, 'ऐस्पेबे' और कार्यशाला में सक्रिय रूप से भागीदार लेखकों के प्रति मैं आभारी हूं।···साथ ही, इस कार्यशाला को सफल बनाने के लिए भारतीय प्रौढ़ शिक्षा के सहयोगियों—डॉ० एस०सी०दत्ता, श्री जे० एल० सचदेव और श्री पद्मधर त्रिपाठी को अपना धन्यवाद देता हूं। आमीन !·····

विनम्र

—जे० सी० सक्सेना
महासचिव (अवैतनिक)

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
नयी दिल्ली-110002

25 दिसम्बर, 1985

इसी बरगद के नीचे

आमने-सामने दो घर और बीच में बरगद का पेड़ ! बस—

यहीं से यह कहानी शुरू होती है। बरगद की जड़ से लगा पूरब का घर रामसिंह का है और बरगद की बरोहों से लिपटा पश्चिम का घर करीम का है।

यह भी एक अनोखी बात है—जिस घर में बरगद की जड़ें हैं, वह घर सात पीढ़ियों से इसी गांव में है। जिस घर में बरोहें फैली हैं, वह सिर्फ तीन पुश्त पहले बसा है।

बहुत पीछे

कहते हैं—रामसिंह के परदादा भरत सिंह इस गांव के मुखिया थे। वह बड़े भले आदमी थे। चाहते थे कि ज्यादा से ज्यादा लोग मेरे गांव में आकर बसें। गांव की आधी से

ज्यादा जमीन उन्हीं की थी ।

लेकिन जमीन होने से क्या ? इस गांव में बसने से लोग डरते थे । एक तो तराई का इलाका और फिर नदी-किनारे का गांव ! हर तीसरे-चौथे साल बाढ़ आती थी । खड़ी फसलें बहा ले जाती थी । कभी-कभी जानवर और आदमी भी बह जाते थे । दूसरे—डाकुओं का डर, किसी ने मेहनत की, कुछ पैसा कमा लिया, अच्छी तरह खाने-पहनने लगा तो डाकू लूट ले जाते थे । यह रामसिंह के पुरखों की हिम्मत थी कि कभी बाढ़ से लड़ते, कभी डाकुओं का सामना करते । वही इस गांव-धरती को अपनी चौड़ी छाती से चिपकाये अब तक चले आ रहे थे ।

पुराने लोग यह कहानी भी बताते हैं कि भरतसिंह के जमाने में एक भालू नचाने वाला गांव में आया करता था । उसका नाम था—खुदाबक्श । खुदाबक्श कहां का था ? उसके कोई और था या नहीं ? यह किसी को पता नहीं था । बस, लोग इतना ही जानते थे कि पैसा मिले चाहे न मिले, कोई अनाज दे या न दे, लेकिन खुदाबक्श भालू का नाच सब को दिखाता है । गांव के पूरब वाले ताल के पास खुदाबक्श आता दिखाई पड़ता है तो बच्चे दौड़ पड़ते हैं—"झल्लू चाचा आये, झल्लू चाचा आये ।" कभी खुदाबक्श ने अपने भालू को 'झब्बर झल्लू' कह दिया था । बस उसी दिन से खुदाबक्श सब के लिए झल्लू चाचा हो गये ।

झल्लू चाचा को न जाने क्यों इस गांव से बेहद प्यार हो गया था । वह कहीं भी जाते, पर शाम को भरतसिंह की चौपाल में जरूर लौट आते । चाचा चाहे शाम को आए, चाहे आधी रात में, पर भरतसिंह के पोते मंगल को जरूर खबर

हो जाती थी। वह जब तक भालू की पीठ पर बैठ कर बरगद के नीचे दो चक्कर न लगा लेता, अपने नन्हें हाथों से भालू को रोटी न खिला लेता, तब तक वह न तो सोता और न मां की गोद में ही जाता।

एक दिन छोटी बहू ने कहा—

"चाचा, जब तक तुम और झल्लर नहीं आ जाते मंगल सोता नहीं, अजीब आदत पड़ गई है इसको!"

"हां बेटा!"—चाचा धीरे से बुदबुदाये, "मेरी भी अजीब आदत पड़ गई है, जब तक इस चौपाल में लौट कर नहीं आ जाता, सुकून नहीं मिलता। लगता है मंगल……"

"रुक क्यों गये खुदाबक्श?" भरत सिंह खुदाबक्श की बात सुनकर उसके पास आ गये—मैंने कितनी बार चाहा कि तुम्हारे खानदान के बारे में कुछ पूछूं, पर मौका ही नहीं मिला। आज छोटी बहू की बात का जवाब देते-देते तुम किस तरह अपने से उलझ गये!"

"हां, उलझना ही तो है ठाकुर साहब! इसी उलझाव को सुलझाते-सुलझाते इतने दिन बीत गये। मेरी भी बीवी थी। एक बेटा था। बेटे की शादी की। बस, तीन साल बेटे-बहू का सुख देखा। इसी बीच दो पोते भी हो गये, नन्हें-नन्हें गुलाब के फूलों-जैसे। पता नहीं क्यों, खुदा को मेरी खुशी गवारा न हुई। गांव में हैजा फैला। बीवी और बेटा उसी में चल बसे। बची बहू और पोते, वे खुदा से तो बच गये लेकिन खुदगर्जी से नहीं बच पाये। बहू ने दूसरा शहर कर लिया और पोतों को लेकर चली गई। अब तो यही झल्लर मेरा खानदान है और झल्लर के आस-पास जुटे हुए बच्चे मेरी दुनिया हैं। मेरा छोटा पोता बिलकुल मंगल-जैसा

था । जब तक झल्लर की पीठ पर सवारी नहीं कर लेता था, वह भी सोता नहीं था ।"

लालटेन की धीमी रोशनी में भी भरतसिंह ने देखा कि खुदाबक्श की आंखों से दो बूंद गिर पड़े। उन्होंने धीरे से कहा, "दिल छोटा न करो खुदाबक्श, इस घर को अपना घर समझो और मंगल को अपना पोता ! दुनिया बहुत बड़ी है। तुम भी अपने मन को बड़ा कर लो।"

खुदाबक्श का मन सचमुच कितना बड़ा है ? एक रात यह भी साबित हो गया। यही करीब रात के दो बजे थे। भरत सिंह के घर से चीख-पुकार सुनाई देने लगी। खुदाबक्श उठकर बैठ गया, समझाने की कोशिश करने लगा। तब तक मंगल के रोने की आवाज आई—झल्लू चाचा बचाओ ···। जब भी मां पीटती थी, मंगल इसी तरह चिल्लाता था। लेकिन आज तो छोटी बहू भी रो रही थी। ठाकुर भरत सिंह किसी के सामने शायद गिड़गिड़ा रहे थे और दो-तीन आदमी

गरज रहे थे—बताओ, कहां क्या रखा है !

खुदाबक्श समझ गया—घर में डाकू घुस आये हैं। बाहर का दरवाजा तो खुला था, लेकिन दरवाजे पर कोई डाकू नहीं था। शायद उन्होंने खुदाबक्श को देखा ही नहीं था। खुदाबक्श थोड़ी देर सोचता रहा। फिर उसने अपने भालू का पट्टा खोला और उसे घर के भीतर कर दिया। खुद भी घर के भीतर जाकर दरवाजे की सांकल चढ़ा दी। खुदाबक्श को कहीं से एक कुल्हाड़ी मिल गई। फिर क्या था ! खुदाबक्श और झल्लर दोनों डाकुओं पर टूट पड़े। डाकू जब भालू पर झपटे तब खुदाबक्श कुल्हाड़ी से वार करे और जब डाकू खुदाबक्श की ओर मुड़े तो भालू उन्हें पीछे से नोच ले। डाकू भाग तो गये, लेकिन जाते-जाते एक बरछी ही झल्लर के पेट में घुसेड़ गये। साथ ही खुदाबक्श को भी अधमरा कर गये।

सवेरा होते-होते झल्लर मर गया। तब ऐसा लगा कि खुदाबक्श भी अब नहीं बचेगा।

भरतसिंह ने रोते-रोते कहा—"खुदाबक्श तुमने मेरे परिवार को बचाया, अब मुझे छोड़कर जाना नहीं।" खुदाबक्श के सूखे होठों पर मुसकराहट आ गई—"ठाकुर, तुम्हीं ने तो सिखाया था कि अपने मन को बड़ा करो और अब खुद ही अपना मन छोटा कर रहे हो। मेरी अपनी पहचान, मेरा अपना खानदान एक झल्लर ही तो था। उसके जाने के बाद....."

"नहीं-नहीं, खुदाबक्श, तुम्हारी अपनी पहचान तुम्हारे दो पोते है। मैं एक को तुम्हारी बहू से मांग लूंगा। वह मेरा पोता होगा, हमारा-तुम्हारा दोनों का—जैसे मंगल है।"

शायद भरत सिंह की यही बात खुदाबक्श को बचा ले गई। सचमुच भरत सिंह ने अपना वचन निभाया। उन्होंने किसी तरह खुदाबक्श की बहू को ढूंढ़ा। तब तक उसके पांच बच्चे और हो गये थे। उसने खुशी-खुशी खुदाबक्श के छोटे पोते को दे दिया। यह अब्दुल था—बिलकुल मंगल की तरह। वही उम्र, वही कद, वही चुलबुलापन और वही सब कुछ। भरतसिंह ने पांच बीघे खेत अब्दुल के नाम लिखा दिए। अपने दोस्त की लड़की से अब्दुल की शादी करा दी। घर के पास ही दूसरा मकान बनवा दिया—वही मकान जो तीन पीढ़ियों बाद आज भी पश्चिम की ओर है। उस मकान के ऊपर फैली बरगद की बरोहें, लगता है, खुदाबक्श के बलिदान और त्याग की शाखाएं हैं, जो भरतसिंह के परिवार की उदारता पाकर फैलती-पनपती गई हैं।

और अब

खुदाबक्श के खानदान की तीसरी पीढ़ी का करीम अपनी आदतों में खुदाबक्श-जैसा है। उसी तरह हिम्मती, उसी तरह खुशदिल, हमेशा रामसिंह की दोस्ती में डूबा हुआ। और रामसिंह, उसे तो लगता ही नहीं कि करीम किसी दूसरी मां की कोख से पैदा हुआ है।

बचपन में करीम अपनी छत से बरगद की बरोह पकड़ कर झूलता था। बरोह लम्बी हुई तो वह रामसिंह की चौपाल में कूद जाता था।

"अच्छा बच्चू", रामसिंह कहता—"तुम ऊपर से नीचे आये, इसमें कोई बहादुरी नहीं है, मैं नीचे से ऊपर जाता हूं।" सचमुच वही लम्बी बरोह पकड़कर रामसिंह करीम की छत पर चढ़ जाता। करीम भी छत पर जाने की कोशिश करता, लेकिन वह न जा पाता। एक दिन रामसिंह ने कहा, "अच्छा चल, तुझे अपने साथ छत पर ले चलता हूं।" पहले करीम को बरोह पकड़ाई, फिर खुद करीम और बरोह को पकड़ा। लेकिन झूलकर ऊपर जाने लगा तो बरोह टूट गई। नीचे रामसिंह गिरा। उसके ऊपर करीम। रामसिंह को थोड़ी-सी चोट लग गई। खून भी बहने लगा। करीम का दिल भर आया—"तूने मेरे लिए चोट खा ली?"

"तेरे लिए क्यों?" रामसिंह मुस्कराया—"अपने लिए! तू भी मेरा ही एक हिस्सा है। है न, बोल……?"

करीम क्या बोले? वह दोस्त, जो बचपन में उसके जीवन का एक हिस्सा था, बढ़कर जवान हो गया। उसकी शादी हो गई। करीम की भी शादी हुई। करीम को फरीदा

मिली और रामसिंह को पार्वती ।

फरीदा जब भी सिवैंया पकाती, न जाने कैसे रामसिंह को महक मिल जाती । वह आधी सिवैयां तो खुद खा जाता और आधी में करीम, पार्वती और फरीदा का हिस्सा लगता। कभी पार्वती पुए बनाती तो फरीदा को बुला लाती—"तू चुपचाप पहले खा ले, पेट में कुछ होता है तो और-और खाने का मन करता है, है न ? यह पांचवां महीना चल रहा है !"

"क्या कहा, पांचवां महीना ?" रामसिंह बीच में ही कहीं से टपक पड़ता है—"तब तो करीम भैया को इनाम देना पड़ेगा—तीन साल में तीन आइगे, एकौ साल न खाली जाय, साल के भीतर एक जो होई, तौ यह फौज न कहूं समायी ।"

सचमुच फौज ही तो थी, दस साल में करीम के सात बच्चे हो गये—चार लड़कियां और तीन लड़के । रामसिंह के सिर्फ तीन बच्चे हुए—दो लड़के और एक लड़की । एक दिन फरीदा ने रामसिंह से कहा—"देवर जी, उन्हें समझाइए न, अब तो जी भर गया ।"

रामसिंह मुस्कराया—"भाभी, मेरा भाई बहादुर है और तुम होशियार । अब भी भाई की बहादुरी नहीं, तुम्हारी होशियारी चलेगी ।"

तब तक करीम भी आ गया । कुछ देर खड़े-खड़े देवर-भाभी के चेहरे की ओर देखता रहा, फिर बोला—"न तो किसी की बहादुरी जीतती है और न होशियारी, हमेशा आदमी की तकदीर जीतती है—वही तकदीर जिसने मुझे तुम जैसा भाई दिया । याद है न राम, बचपन में जब हम-तुम स्कूल में साथ पढ़ते थे, रतन सिंह के भाई ने मुझसे कुश्ती मांगी थी । तुमने उसे उठाकर पटक दिया था । तुम

चाहे भूल गये हो, मुझे अब भी याद है—तुमने कहा था—मेरे भाई के सामने जो आयेगा, उसे पहले मुझसे लड़ना पड़ेगा। अब तो मुझे ऐसा लगता कि अगर मेरी तकदीर भी मुझसे लड़ने आयेगी, तो उससे भी आगे बढ़कर तुम्हीं पहले हाथ मिलाओगे। क्या हुआ, जो ये बच्चे फरीदा की कोख से पैदा हुए, पार्वती भाभी ने इन्हें खीर खिलाया है। आज तक हमेशा बाजार से तुम्हीं तो इनके लिए कपड़े लाये हो।"

"सुन लिया न भाभी!" रामसिंह मुसकराया, "मैं जब हमीद, रशीद और वाहिद का नाम स्कूल में लिखवाने गया, तो मास्टर से कहा—मास्टर जी, इनकी वल्दियत में रामसिंह लिख दो, लेकिन क्या करूं! वह माना ही नहीं। अब तो एक ही रास्ता है—एक-दो तीन और फिर सात, अब तो ढंग की सोचो बात।"

पार्वती और फरीदा ठठा कर हंस पड़ीं। करीम ने कहा—"मैं भी कविता कर लेता हूं—"देवर भाभी हो गये साथ, अब तो बनेगी कोई बात'।"

लेकिन बात हमेशा आदमी के बनाये ही नहीं बनती। कभी-कभी समय भी कितनी बातें बनाता-बिगाड़ता रहता है। फरीदा का एक चचेरा भाई था—गफूर। वह बचपन से ही आवारा था। ज्यादा पढ़-लिख नहीं सका था। लेकिन जाने कैसे वह सऊदी अरब चला गया। वहां सिलाई की दूकान रख ली। खूब पैसा कमाया। वह पांचवें-छठे महीने आता था और कुछ-न-कुछ करके ही जाता था। फरीदा सुनती रहती थी—अबकी गफूर ने मकान बनवाया, अबकी चाचा को दूकान रखा दी, अबकी मस्जिद को लाउडस्पीकर दे गया, अबकी मकतब की छत डलवा दी।

एक दिन शाम को वही गफूर फरीदा के यहां आ गया। दो दिन रहा और फिर चला गया। उसी दिन फरीदा की बड़ी बेटी रजिया पार्वती के पास आई और बोली—"चाची, ये हिन्दू लोग मुसलमानों से नफरत क्यों करते हैं ? मुरादाबाद में ईद के दिन मुसलमान नमाज पढ़ने गये। हिन्दू सिपाहियों ने सुअर काट कर मस्जिद में फेंक दिया, मुसलमानों को मारा-पीटा। उन पर गोलियां भी चलाईं। गोंडा में यही हुआ। रामपुर कोई जगह है ? वहां भी यही हुआ, और मैंने तो सुना है—यहां भी होने वाला है।"

पार्वती ने रजिया का सूखा-सा मुंह देखा तो धीरे से पूछा—"तूने आज कुछ खाया-पिया नहीं क्या ? खीर बनाई है, लाऊं ?"

"नहीं चाची, गफूर भाई ने कसम दिलाई है कि हिन्दू के घर का कुछ भी न खाना। ये हिन्दू काफिर हैं। गफूर भाई मुझे और मेरे भाइयों को अरब ले जाना चाहते हैं।

मुझे पांच सौ रुपये दे गये हैं। अपना पता भी दिया है।"

पार्वती रजिया का मुंह देखती रह गई। हिन्दू-मुसलमान क्या होता है ? लड़ाई क्या होती है, अरब क्या है। पैसा क्या है ? अपने और फरीदा के बच्चे के बीच कौन किसका है ! ये बातें पहली बार उसने आंख उठाकर देखना-समझना चाहा। लेकिन जब तक समझती, समय ने दूसरा ही खेल खेल दिया।

रजिया ही नहीं, करीम के पांच बच्चे गफूर के बहकावे में आ गये। सीधा-सादा करीम और सरल स्वभाव की फरीदा यह समझ ही न पाये कि क्या हो रहा है ? अब गफूर करीम हर महीने आता था। लड़कियों के लिए सलवार कुर्ता, गहने और लड़कों के लिए पैंट शूट जूते बनियान मोजे कितनी चीजें लाता था। चीजें लाता था, साथ ही बच्चों के मन में एक अलग तरह की आग लगा जाता था।

एक दिन एक घटना से इस आग में जैसे घी पड़ गया। राखी का दिन था। गफूर बैठा रजिया से बात कर रहा था। रामसिंह का बड़ा लड़का वीर सिंह हमेशा की तरह 'रजिया बहन' पुकारता हुआ भीतर आ गया और बोला—"रजिया, जल्दी से राखी बांध दे और मिठाई खिला।

गफूर ने हिकारत भरी नजरों से वीर सिंह को देखा और पूछा—"तुम रामसिंह के लड़के हो न ?"

"जी हां !" 'वीर सिंह ने गफूर के बारे में सुना जरूर था, लेकिन देखा पहली बार था। गफूर ने फिर पूछा—"तुम्हारा नाम ?"

"वीर सिंह।"

"वाह, बहुत खूब ! रजिया तुम्हारी बहन कब से हो गई ?"

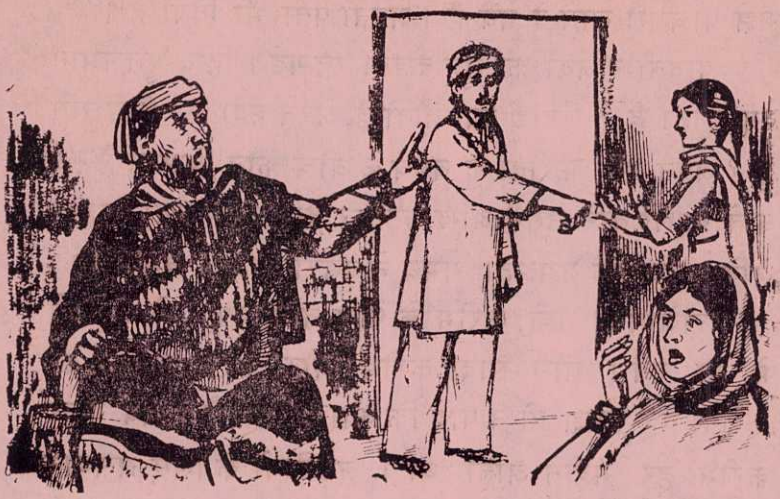

"जब से पैदा हुई, यह मुझे राखी बांधती है।"

"यह तुम हिन्दुओं का अजीब ढोंग है।"

"ढोंग, क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि एक छोटा-सा धागा बांध दिया और कह दिया—मेरी बहन हो गई ! मुंह से बहन कहते रहो और भीतर से..."

गफूर की बात पूरी न हो पाई और वीर सिंह का हाथ उठ गया। एक नहीं, उसने तीन-चार घूंसे गफूर को मारे ! जब तक दूसरे भाई-बहन दौड़े तब तक वीर सिंह ने और मारा। वह बार-बार यही कह रहा था—"इसने रजिया बहन की बेइज्जती की।" गफूर सारे बहन-भाइयों को समझा रहा था—"तुमने देख लिया न, ये हिन्दू हमें कभी नहीं जाने देंगे।"

वीर सिंह गुस्से में था। फिर भी उसने अपने को संभाला और रजिया की ओर अपना दाहिना हाथ बढ़ाते हुए कहा—"ले बहन, राखी बांध और अपने रुपये ले।"

लेकिन यह क्या ? वीर सिंह के सामने तो जैसे आसमान फट पड़ा। रजिया ने जलती हुई आंखों से वीर सिंह को देखा और फुफकारती हुई बोली—"मर गई तुम्हारी बहन, और जहन्नुम में जाये तुम-जैसा भाई। तुमने इनको मारा—जो मुझे अपने सिर-आंखों पर बैठाते हैं! अब निकल जाओ चुपचाप मेरे घर से। सचमुच तुम सब काफिर हो। न तुम मुझे मुंह दिखाना और न हम कभी तुम्हें मुंह दिखाएंगे।"

वीर सिंह अपना सिर नीचा किए उस घर की देहरी से बाहर हो गया। शायद उसी दिन, उसी क्षण दो घरों की मुहब्बत प्यार, एक दूसरे का ख्याल, इंसानियत—सभी देहरी के बाहर हो गये।···

हफ्ते-भर के भीतर करीम की तीन लड़कियां और दो लड़के गफूर के साथ चले गये। कुछ दिनों तक लड़के तो कभी-कभी आते-जाते रहे, पर लड़कियां कभी नहीं आईं। न जाने कैसे बहला-फुसला कर करीम का बड़ा लड़का एक दिन फरीदा को भी ले गया। करीम सब कुछ टुकुर-टुकुर देखता रहा। रामसिंह भी देखता रहा, पर कोई कुछ न कर पाया।

फिर अन्त में—

अब करीम के पास सिर्फ छोटी लड़की रह गई थी—फातिमा और मंझला लड़का—हनीफ। करीम के पास कभी-कभी बड़ी रकम के मनीऑर्डर आते थे। खत भी आते थे। लेकिन उन सब से करीम का कोई मतलब नहीं था। फातिमा और हनीफ ही सब रखते-धरते थे। करीम तो सिर्फ कभी-

कभी घर जाता था, बाकी दिन-रात उसी बरगद के नीचे लेटा रहता था। कभी-कभी अचानक चुप बैठता और घंटों उस रास्ते की ओर निहारता रहता, जिधर उसके बच्चे गये थे, उसकी बूढ़ी बीवी गई थी, और शायद सारी हकीकत और उम्मीद भी चली गई थी।

रामसिंह भी कभी-कभी आकर उसके पास बैठ जाता। वह थोड़ी देर करीम की ओर देखता रहता, फिर पूछता—

"आज खाना खाया ?"

"हां।"

"हुक्का पिया ?"

"हां।"

"दिन-भर लेटे-लेटे क्या करते हो ?"

(करीम कोई जवाब न देता।)

रामसिंह फिर बात उठाता—

"कल पार्वती ने हलुआ बनाया था ?"

"हां।"

"तुझे दिया था ?"

"हां दिया था।"

"कैसा था ?"

"अच्छा था यार,"—कहते-कहते करीम के आंसू ढुलक पड़ते। वह अपना मुंह दूसरी ओर घुमा लेता। रामसिंह थोड़ी देर चुप रहता, फिर पूछता—"करीम भाई, कभी-कभी तू एक कहानी सुनाया करता था—एक कबूतर-कबूतरी की। उनके चार बच्चे थे। पास ही एक हंसों का परिवार भी था। दोनों के घोंसले पास-पास थे। कभी हंसों के बच्चे कबूतरों के साथ खेलते, कभी कबूतर हंसों के घोंसले में दाना

चुगते। एक दिन कबूतर के बच्चों के पंख जम आये, वे कहीं उड़ गये। अब हंसों के बच्चे रोया करते, कबूतर-कबूतरी उदास रहते, हमेशा उसी दिशा की ओर निहारा करते..."

"नहीं राम!"—करीम धीरे से बुदबुदाया—"तब मुझे मालूम नहीं था कि यह कहानी झूठी है। असल में कबूतर के चारों बच्चे दोनों घोंसलों में आग लगाकर गये थे, प्यार, मुहब्बत, इंसानियत सब कुछ जला कर गये थे। उस कबूतर ने उनकी राह कभी नहीं देखी। वह तो गुजरे हुए जमाने की तसवीर देखा करता था, जैसे मैं देखा करता हूं। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि यह कहानी मेरे ऊपर इस तरह से घटेगी।"

"अभी कहानी पूरी कहां हुई करीम? हो सकता है, जिन्दगी का कोई ऐसा मोड़ आये, जब तुम्हारी तसवीर में नये रंग भर जाएं।" रामसिंह धीरे से कहता और उठ जाता।

सचमुच रामसिंह की बात जैसे कोई कान लगाकर सुन रहा था। एक दिन फरीदा अपने एक लड़के के साथ वापस आ गई। उसने करीम को रो-रो कर बताया—गफूर लड़कियां बेचने का धंधा करता था। उसने तीनों लड़कियों को एक अरबी सेठ के हाथों बेच दिया। उस सेठ के पास पहले से कई बीवियां थीं। अब हमारी लड़कियां चाहें भी तो यहां नहीं आ सकतीं। दोनों लड़कों को पहले गफूर तमाम सब्ज-बाग दिखाता रहा, फिर उन्हें जहाज की कुलीगीरी में लगवा दिया। कुलियों के ठेकेदार ने कुछ पैसे उधार दिए, तब एक लड़के को लेकर यहां आई हूं। सच इस घर की, गांव की, बरगद की, राम-पार्वती की और तुम्हारी बड़ी याद आती थी। लगता था—अब शायद न देख पाऊंगी।"

कहते-कहते फरीदा फूट पड़ी। पार्वती उसकी पीठ सहला रही थी। रामसिंह कह रहा था—"भाभी, जो गया सो गया, जो बचा है उसे संभालो।"

लेकिन संभाले कौन ? और कैसे संभाले ? करीम को लगता है—दोनों घरों के बीच दरार पड़ गई, अब यह भरेगी क्या ? अगर भरेगी तो कैसे ? शायद करीम मरते-दम तक यही सोचता रहता, अगर फातिमा और वीर सिंह एक दिन आकर उसके सामने न खड़े हो जाते—

"चाचा एक बात पूछने आये हैं ?"

"पूछो बेटा !"

"हमारा आपका घर तो पीढ़ियों से यहीं है न !"

"हां बेटा....."

"हम सब हमेशा एक साथ खाते-पीते रहे, बैठते-उठते रहे, एक दूसरे के दुःख-दर्द में शामिल रहे।"

"हां बेटा....."

"तब फिर यह कैसे हो गया कि तीन दिन का आया गफूर तीन पीढ़ियों का बना संसार बर्बाद करके चला गया ?"

करीम थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—

"मेरी समझ में कुछ नहीं आता बेटा।"

"पर मेरी समझ में आता है चाचा, हम एक ही तरह का अन्न-पानी खाते-पीते रहे, पर हामरा खून अलग-अलग रहा, हमने सोचा है—अब इस खून को एक करेंगे।"

"कैसे करोगे बेटा ?"

"फातिमा का ब्याह किसी ऐसे से करूंगा जो न हिन्दू होगा न मुसलमान, वह सिर्फ एक इंसान होगा ! जानते हैं चाचा, वह इंसान कौन है ?"

"कौन है बेटा ?"

"मेरा छोटा भाई महिपाल। महिपाल ने फातिमा को कभी बहन नहीं कहा, कभी राखी नहीं बंधाई। वह एक-दूसरे से प्यार भी करते हैं। आपकी इजाजत चाहते हैं।"

करीम के ऊपर जैसे खुशियों की बरसात हो गई, ऐसी बरसात जो जेठ की तपती धरती को फिर से हरा कर देती है। वह कुछ देर तो कुछ भी न बोल सका, बस धीरे से बुदबुदाया···महिपाल···फातिमा,···प्यार,···इजाजत ! एक बार फिर जैसे करीम के बचपन ने अपनी छत से बरगद की बरोह पकड़ी और वह रामसिंह की चौपाल में कूदा। रामसिंह ने भी···नहीं, नहीं, अबकी रामसिंह के बेटे बीर सिंह ने करीम को साथ लिया और छत पर पहुंच गया। वापस उसी छत पर जहां प्यार और मुहब्बत की बरोहें

फैली थीं। करीम ने धीरे-धीरे अपनी आंखें मलीं और फिर उसी दिशा की ओर देखा—जिधर से उसकी खुशियां, उसकी उम्मीदें गांव छोड़कर गई थीं। उसे दिखाई दिया, नहीं-नहीं सुनाई भी दिया—किसी नई उम्मीद के आने की आवाज वापस उसी के पास आ रही थी। करीम संभलकर बैठ गया—वह स्वागत करेगा, उस उम्मीद का, उस दिन का, उस पल-छिन का, इसी बरगद के नीचे।

□□□

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
'शफीक मेमोरियल'
17-बी, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट
नई दिल्ली-110002